वाल्मीकि रामायण में वर्णित जीवन विषयक आध्यात्मिक दृष्टिकोण

प्रो. सत्यप्रकाश दुबे, आचार्य, संस्कृत विभाग, निदेशक, पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ
श्री वीरेन्द्र कुमार शर्मा, शोधच्छात्र, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर।

आर्ष मनीषा अनादिकाल से मानवमात्र को सचेत करती रही है कि आनन्द की प्राप्ति के लिए बाह्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण वस्तुत: भ्रान्ति का परिचायक है। आनन्द की सम्प्राप्ति हेतु आत्मनिरीक्षण, अन्त:साक्षात्कार अनिवार्य है। यदि इन्द्रियां बहिर्मुखी हैं तो वैषयिक सुख-दु:खात्मक अनुभूति होती रहेगी। सच्चे आनन्द की प्राप्ति तो अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से ही सम्भव है। मन सहित सकल इन्द्रियां जब अन्तर्मुखी हो जाती हैं तब उस चैतन्य परमात्मा का संस्पर्श प्राप्त होता है और चैतन्य परमात्मा के संस्पर्श से अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है।

चंचल, अशान्त और क्षुब्ध मन वाले व्यक्ति को कदापि सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जो मनुष्य आर्षवाणी से सम्प्राप्त विवेक के द्वारा अपूर्ण तथा अनित्य भोग्यपदार्थों में दु:ख की अनुभूति करता है उसके मन से विषयभोग की कामना दूर हो जाती है। वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से अनुप्राणित अमन्द आनन्द का नित्य ही अनुभव करता है।

प्राचेतस ऋषि वाल्मीकि प्रणीत रामायण इस सृष्टि का वह प्रथम काव्य है जिसका एक-एक अक्षर महापातक का भी नाश करने वाला है – **एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।** सुभाषितपद्धतिकार आचार्य शार्ङ्गधर प्राचेतस ऋषि और उनकी इस कृति के प्रति आधमर्ण्य प्रकट करते हुए कहते हैं –

कवीन्द्रं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीं कथाम्।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधव:।।[1]

इस कथन में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं है कि अधिकांश भारतीय जन्म-घुट्टी के साथ ही रामकथारूपी रसायन का पान करते हुए बड़े होते हैं। माँ के दूध में ही घुले हुए रसायन का सहज रूप में पान का अभ्यस्त होकर व्यक्ति जीवन का पाथेय भी प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मा जी के साक्षात् दर्शन और देवर्षि नारद के प्रबोधन से प्राचेतस ऋषि वाल्मीकि ने विष्णु के रामावतार विषयक वचन को हृदयङ्गम करके उस चरित्र को दिव्य-काव्य के रूप में प्रस्तुत करने का उपक्रम किया जिसके सम्बन्ध में स्कन्दपुराण के उत्तरखण्ड में यह कहा गया है कि –

रामायणेति यन्नाम सकृदप्युच्यते यदा।
तदैव पापनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति।।
ये पठन्ति सदाख्यानं भक्त्या शृण्वन्ति ये नराः।
गङ्गास्नानाच्छतगुणं तेषां सञ्जायते फलम्।।[२]

वस्तुतः वेद-वेदान्तादि शास्त्रों एवं पुराणों द्वारा साक्षात्करणीय स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मतत्त्व का दर्शन ही रामायण के अनुशीलन से होता है –

यो नामजात्यादिविहीनकल्पः
परावराणां परमः परः स्यात्।
वेदान्तवेद्यः स्वरुचा प्रकाशः
स वीक्ष्यते सर्वपुराणवेदैः।।[३]

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के अन्तःस्थित आदर्शों की उपलब्धि हेतु सतत प्रयत्नशील मानव अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप का बोध न कर पाने के कारण आज धर्म तथा अध्यात्म के प्रति कुछ उदासीन दिखाई पड़ रहा है। उसकी दृष्टि में शास्त्रों की आज्ञाओं का अनुशीलन ही धर्म और कुछ निश्चित विधानों का अनुकरण मात्र ही अध्यात्म है। आज प्रायः यह भी समझा जाता है कि आध्यात्मिक व्यक्ति सांसारिक वृत्ति से पलायन कर जाता है, स्वयं को व्यावहारिक जगत से अलग कर लेता है किन्तु वास्तविकता तो यह है कि अध्यात्म व्यक्ति को कभी पलायनवादी या निष्क्रिय नहीं बनाता है अपितु अभ्युदय के साथ निःश्रेयस का मार्गदर्शन करवाता है। इस अभ्युदय के साथ निःश्रेयस से सम्बन्धित आचरण ही आर्यसंस्कृति का शुक्लपक्ष माना जाता है और यही जीवन का सर्वोच्च आदर्श है जिसका यशोगान करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने कहा है-

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवति सुखम्।।[४]
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।।[५]

ऋषि की दृष्टि में सत्य सर्वोत्कृष्ट धर्म है, सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही ईश्वर है तथा समस्त सृष्टि का मूल सत्य ही है –

आहु: सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जना:।
सत्यमेकं पदं ब्रह्म सत्ये धर्म: प्रतिष्ठित:।।
सत्यमेवाक्षया वेदा: सत्येनावाप्यते परम्।।[६]

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्म: सदाश्रित:।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।।[७]

महर्षि का यह अभिमत है कि चूँकि नैतिकता ही जीवन की धुरी है अत: इसका उल्लंघन नैतिक मानदण्डों से विमुख होना है। इसलिए वाल्मीकि ने अपने समय में नैतिकता का अतिक्रमण कर निरंकुश राजाओं की अनर्गल प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया स्वरूप राम का आदर्श प्रस्तुत किया।

जीवन में वैराग्य का चोला धारण कर अकर्मण्य बन जाना वाल्मीकि का दृष्टिकोण नहीं था अपितु वह तो कर्मयोग के सिद्धान्त के समर्थक थे। जैसा कि उन्होंने हनुमान जी के चिन्तन को स्पष्ट किया है –

अनिर्वेद: श्रियो मूलमनिर्वेद: परं सुखम्.....
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तक:।[८]
करोति सफलं जन्तो: कर्म यच्च करोति स:।।[९]

अपने युग की मान्यताओं के अनुरूप ऋषि वाल्मीकि का शकुन, स्वप्नफल, ज्योतिष, जड़ी-बूटी, पुनर्जन्म तथा मन्त्रशक्ति आदि में विश्वास था। तपस्वियों तथा ब्राह्मणों के सम्मान में उनकी आस्था थी। प्रवृत्तिमूलक धर्म की आशंसा के साथ वे आर्य संस्कृति के परम पोषक थे। उनका आदर्श राम के शब्दों में इस प्रकार था –

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मां ऋषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्।।[१०]

'मैं धन का उपासक होकर संसार में नहीं रहना चाहता हूँ। तुम विश्वास रखो। मैंने भी ऋषियों की ही भांति निर्मल धर्म का आश्रय ले रखा है।'

यद्यपि 'रामतनु' रूप में प्रसिद्ध रामायण अध्यात्म का वाङ्मयविग्रह (शब्दमय शरीर) है जिसका विस्तृत विवेचन इस लघुकाय आलेख में सम्भव नहीं है तथापि अध्यात्म विषयक लोकोपयोगी तत्त्वों का सूत्र रूप में उपस्थापन इस प्रकार है –

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत मन्दाकिनी के तट पर स्थित वह आश्रम जहाँ श्रीराम के समक्ष भरत अनुनय–विनयपूर्वक तपोवन से लौटकर अयोध्या के राज्य सञ्चालन हेतु निवेदन कर रहे हैं और जिसका अनुमोदन अयोध्या के नगर प्रतिनिधि जन भी कर रहे हैं –

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते।
राम! तेन तु दुर्जीव यः परानुपजीवति।।[११]

श्रीराम! जिसके पास आकर दूसरे लोग जीवन निर्वाह करते हैं उसी का जीवन उत्तम है और जो दूसरों का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करता है उसका जीवन दु:खमय होता है (अत: आपके द्वारा राज्य की बागडोर सम्भालना ही उचित है।)

श्रीराम, जिन्हें महर्षि वाल्मीकि ही नहीं, ब्रह्माजी से लेकर भार्गव परशुराम तक विष्णु का अवतार मानते हुए कहते हैं –

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वं ऋषिसत्तम।
धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः।।[१२]
अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परन्तप।।
न चेयं तव काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः।।[१३]

ऐसे धीर–गम्भीर पिता महाराज दशरथ की आज्ञा के पालक श्रीराम ने इस जीवन की नश्वरता, क्षणभंगुरता पर विचार करके जो कहा है वह इस महनीय ग्रन्थ का सार है। उनके अनुसार –

आत्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति।।[१४]

'यह जीव ईश्वर के समान स्वतन्त्र नहीं है अत: कोई भी यहाँ अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी नहीं कर सकता है, काल इस पुरुष को इधर–उधर खींचता रहता है।'

सर्वे क्षयान्ता निचया: पतनान्ता: समुच्छ्रया:।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्।।[१५]

'सकल संग्रहों का अन्त विनाश है। लौकिक उन्नतियों का अन्त पतन है। संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है।'

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम्।।[१६]

'जिस प्रकार पके हुए फलों को पतन के सिवा अन्य किसी से भय नहीं है उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्य को मृत्यु के सिवा अन्य किसी से भय नहीं है।'

यथागारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति।
तथावसीदन्ति नरा जरा मृत्युवशंगता:।।[१७]

'जिस प्रकार सुदृढ़ खम्भे वाला भवन भी पुराना होने पर गिर जाता है उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्यु के वश में पड़कर नष्ट हो जाते हैं।'

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुनापूर्णं समुद्रमुदकार्णवम्।।[१८]

'जो रात बीत जाती है वह लौटकर फिर नहीं आती है जिस प्रकार यमुना जल से भरे हुए समुद्र की ओर ही जाती है, उधर से लौटती नहीं है।'

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशव:।।[१९]

'रात-दिन लगातार बीत रहे हैं और वे इस संसार में सभी प्राणियों की आयु का तीव्र गति से ठीक उसी तरह नाश कर रहे हैं जिस तरह सूर्य की किरणें ग्रीष्म ऋतु में जल को शीघ्रतापूर्वक सोखती रहती हैं।'

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि।
आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च।।[२०]

'तुम स्वयं के लिए ही चिन्ता करो, दूसरों के लिए बार-बार क्यों शोक करते हो। कोई इस लोक में स्थित हो या अन्यत्र गया हो, उन सभी की आयु तो निरन्तर क्षीण हो ही रही है।'

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते।।[२१]

'मृत्यु साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और बहुत बड़े मार्ग की यात्रा में भी साथ ही जाकर वह मनुष्य के साथ ही लौटती है।'

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत्।।[२२]

'शरीर में झुर्रियां पड़ गयीं, सिर के बाल सफेद हो गये। फिर जरावस्था से जीर्ण हुआ मनुष्य कौन सा उपाय करके मृत्यु से बचने के लिए अपना प्रभाव प्रकट कर सकता है।'

नन्दत्युदित आदित्ये नन्दत्यस्तमितेऽहनि।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्।।[२३]

'लोग सूर्योदय होने पर प्रसन्न होते हैं। सूर्यास्त होने पर भी खुश होते हैं किन्तु वे यह नहीं समझ पाते कि प्रतिदिन अपने जीवन का नाश हो रहा है।

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम्।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः।।[२४]

'किसी ऋतु का प्रारम्भ देखकर मानो वह नयी नयी (पहली बार) आयी हो, ऐसा समझकर लोग हर्ष से खिल उठते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि इन ऋतुओं के परिवर्तन से प्राणियों के प्राणों (आयु) का क्रमशः क्षय हो रहा है।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य तु व्यपेतायां कालमासाद्य कश्चन।।
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः।।[२५]

'जिस प्रकार महासागर में बहते हुए दो काष्ठ कभी एक-दूसरे से मिल जाते हैं और कुछ समय के बाद अलग भी हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं क्योंकि इनका वियोग अवश्यम्भावी है।'

नात्र कश्चिद् यथाभावं प्राणी समतिवर्तते।
तेन तस्मिन् न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः।। [२६]

'इस संसार में कोई भी प्राणी यथासमय प्राप्त होने वाले जन्म-मरण का उल्लङ्घन नहीं कर सकता है इसलिये जो किसी मृत्यु को प्राप्त हुए व्यक्ति के लिए बार-बार शोक करता है उसमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपनी मृत्यु को टाल सके।

यथा हि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात् कश्चित् पथि स्थितः।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति।।
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पितृपितामहैर्ध्रुवः।
तमापन्नः कथं शोचेद् यस्य नास्ति व्यतिक्रमः।। [२७]

'जिस प्रकार आगे जाते हुए यात्रियों के समुदाय से रास्ते में खड़ा हुआ पथिक यह कहे कि मैं भी आप के पीछे-पीछे आऊंगा और उसके अनुसार वह पीछे-पीछे जाए, उसी प्रकार हमारे पूर्वज पिता-पितामह आदि जिस मार्ग से गये हैं, जिस पर जाना अनिवार्य है तथा जिससे बचने को कोई उपाय नहीं है, उसी मार्ग पर स्थित हुआ मनुष्य किसी और के लिए शोक कैसे करे।'

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वा निवर्तिनः।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः।। [२८]

'जिस प्रकार नदियों का प्रवाह पीछे नहीं लौटता उसी प्रकार दिन-दिन ढलती हुई अवस्था फिर नहीं लौटती है। उसका क्रमशः नाश हो रहा है, यह विचार कर आत्मा के कल्याण के लिए साधनभूत धर्म में लगावे, क्योंकि सभी लोग अपना कल्याण चाहते हैं।'

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि ऋषि वाल्मीकि ने सर्वगुणसम्पन्न श्रीराम के पवित्र चरित्र के माध्यम से उनके आचरण व्यवहार से जीवन की नश्वरता को समझकर लोक को भी आत्मकल्याण हेतु जो शिक्षा प्रदान की है वह हमारी भारतीय संस्कृति एवं उपनिषदादि शास्त्रों का मूलमन्त्र है।

वर्तमान समय में जबकि पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की मायात्मक-मरीचिका में विद्वज्जन भी विमोहित हैं तब सर्वविध कल्याणप्रद वेदशास्त्रानुमोदित जीवन के रहस्य को सरल भाषा में समझाना

अत्यन्त प्रासंगिक है। सच्चे अर्थों में सुख और शान्ति की प्राप्ति इस शाश्वत स्वरूप को समझने से ही सम्भव है जिसके लिए उपाय प्रस्तुत करती हुई श्रुति कहती है –

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।[२९]

अर्थात् उठो! साधना के लिए प्रयत्नशील बनो, अज्ञाननिद्रा से जागो एवं श्रेष्ठ विद्वान् जिस मार्ग को छुरे की तेज धार के समान दुर्लङ्घ्य–दुर्गम बताते हैं, उसको महापुरुषों की शरण ग्रहण कर समझो।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण गीताप्रेस, गोरखपुर नम्र निवेदन, पृष्ठ ४ पर उद्धृत।
२. श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण माहात्म्य २/७२/७३
३. श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण माहात्म्य १/३०
४. अयोध्याकाण्ड १४/३–७
५. अयोध्याकाण्ड ९/३०
६. अयोध्याकाण्ड २१/४१
७. अयोध्याकाण्ड १०९/१३
८. सुन्दरकाण्ड १२/१०
९. सुन्दरकाण्ड १२/११
१०. अयोध्याकाण्ड १९/२०
११. अयोध्याकाण्ड १०५/७
१२. बालकाण्ड २/३२
१३. बालकाण्ड ७६/१७,१९
१४. अयोध्याकाण्ड १०५/१५
१५. अयोध्याकाण्ड १०५/१६
१६. अयोध्याकाण्ड १०५/१७
१७. अयोध्याकाण्ड १०५/१८
१८. अयोध्याकाण्ड १०५/१९
१९. अयोध्याकाण्ड १०५/२०
२०. अयोध्याकाण्ड १०५/२१
२१. अयोध्याकाण्ड १०५/२२
२२. अयोध्याकाण्ड १०५/२३
२३. अयोध्याकाण्ड १०५/२४
२४. अयोध्याकाण्ड १०५/२५
२५. अयोध्याकाण्ड १०५/२६–२७
२६. अयोध्याकाण्ड १०५/२८
२७. अयोध्याकाण्ड १०५/२९–३०
२८. अयोध्याकाण्ड १०५/३१
२९. कठोपनिषद् १/३/१४